

Chapter चार

विदुर का मैत्रेय के पास जाना

उद्धव उवाच

अथ ते तदनुज्ञाता भुक्त्वा पीत्वा च वारुणीम् ।
तया विभ्रंशितज्ञाना दुरुक्तैर्मर्म पस्पृशुः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

उद्धवः उवाच—उद्धव ने कहा; अथ—तत्पश्चात्; ते—वे (यादवगण); तत्—ब्राह्मणों द्वारा; अनुज्ञाताः—अनुमति दिये जाकर;
भुक्त्वा—खाकर; पीत्वा—पीकर; च—तथा; वारुणीम्—मदिरा; तया—उससे; विभ्रंशित-ज्ञानाः—ज्ञानसे विहीन होकर;
दुरुक्तैः—कर्कश शब्दों से; मर्म—हृदय के भीतर; पस्पृशुः—छू गया।

तत्पश्चात् उन सबों ने (वृष्णि तथा भोज वंशियों ने) ब्राह्मणों की अनुमति से प्रसाद का उच्छिष्ट खाया और चावल की बनी मदिरा भी पी। पीने से वे सभी संज्ञाशून्य हो गये और ज्ञान से रहित होकर एक दूसरे को वे मर्मभेदी कर्कश वचन कहने लगे।

तात्पर्य : उत्सवों में जब ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को भलीभाँति भोजन कराया जाता है, तो अतिथियों द्वारा अनुमति दिये जाने पर आतिथेय भोजन का उच्छिष्ट खाता है। अतएव वृष्णि तथा भोज वंशियों ने ब्राह्मणों से औपचारिक अनुमति ली और तब तैयार किया हुआ भोज्य पदार्थ खाया। क्षत्रियों को कतिपय अवसरों पर मदिरा पीने की छूट है, अतएव उन सबों ने चावल से बनी हल्की मदिरा का पान किया। ऐसे मदिरापान से वे इतने संज्ञाशून्य तथा मूर्छित हो उठे कि वे पारस्परिक सम्बन्धों को भूल गये और ऐसे कटु वचनों का प्रयोग करने लगे जो आपस में एक दूसरे के हृदय को आहत करने लगे थे। मदिरापान इतना हानिकारक है कि कोई अत्यन्त सुसंस्कृत परिवार भी नशे से प्रभावित हो जाता है और नशे की अवस्था में अपने आपको भूल सकता है। वृष्णि तथा भोज वंशियों से इस तरह अपने आपको भूल जाने की आशा नहीं की जाती थी। किन्तु परमेश्वर की इच्छा से ऐसा हुआ और वे एक दूसरे के प्रति कटु बन गये।

तेषां मैर्यदोषेण विषमीकृतचेतसाम् ।

निम्लोचति रवावासीद्वेणूनामिव मर्दनम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उनके; मैर्य—नशे के; दोषेण—दोष से; विषमीकृत—असंतुलित; चेतसाम्—जिनके मन; निम्लोचति—अस्त होता है; रवौ—सूर्य; आसीत्—घटित होता है; वेणूनाम्—बाँसों का; इव—सदृश; मर्दनम्—विनाश।

जिस तरह बाँसों के आपसी घर्षण से विनाश होता है उसी तरह सूर्यास्त के समय नशे के दोषों की अन्तःक्रिया से उनके मन असंतुलित हो गये और उनका विनाश हो गया।

तात्पर्य : जब जंगल में आग की आवश्यकता होती है, तो परमेश्वर की इच्छा से बाँसों के आपसी घर्षण से आग लग जाती है। इसी तरह यदुवंशियों का विनाश भगवान् की इच्छा से आत्मविनाश की विधि से हो गया। जिस तरह मानव प्रयास से जंगल के बीच अग्नि लगने की संभावना नहीं रहती उसी तरह ब्रह्माण्ड में ऐसी कोई शक्ति नहीं थी जो भगवान् द्वारा रक्षित यदुवंशियों का विनाश कर सकती। भगवान् ने उनके इस तरह से विनष्ट होने की इच्छा की, अतएव उन्होंने उनके आदेश का पालन किया जैसाकि *तदनुज्ञात* शब्द से सूचित होता है।

**भगवान्स्वात्ममायाया गतिं तामवलोक्य सः ।
सरस्वतीमुपस्पृश्य वृक्षमूलमुपाविशत् ॥ ३ ॥**

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; स्व-आत्म-मायायाः—अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा; गतिम्—अन्त; ताम्—उसको; अवलोक्य—देखकर; सः—वे (कृष्ण); सरस्वतीम्—सरस्वती नदी का; उपस्पृश्य—जल का आचमन करके; वृक्ष-मूलम्—वृक्ष की जड़ के पास; उपाविशत्—बैठ गये।

भगवान् श्रीकृष्ण अपनी अन्तरंगा शक्ति से (अपने परिवार का) भावी अन्त देखकर सरस्वती नदी के तट पर गये, जल का आचमन किया और एक वृक्ष के नीचे बैठ गये।

तात्पर्य : यदुओं तथा भोजों के उपर्युक्त समस्त कार्य भगवान् की अन्तरंगा शक्ति द्वारा सम्पन्न हुए, क्योंकि वे अपने अवतार के उद्देश्य को पूरा कर लेने के बाद उन सबों को अपने-अपने धामों को भेज देना चाहते थे। वे सभी उनके पुत्र-पौत्र थे और उन्हें भगवान् के पैतृक स्नेह द्वारा पूर्ण संरक्षण प्राप्त था। भगवान् के समक्ष उनका विनाश किस तरह हो सका, इसका उत्तर इस श्लोक में दिया गया है। प्रत्येक कार्य स्वयं भगवान् द्वारा सम्पन्न किया गया। (*स्वात्ममायायाः*) भगवान् के पारिवारिक जन या तो उनके स्वांश अवतार थे या स्वर्ग-लोकों के देवता थे; अतएव अपने प्रस्थान के पूर्व उन्होंने अपनी अन्तरंगा शक्ति से उन्हें पृथक् कर दिया। उन्हें अपने-अपने धामों में भेजे जाने के पूर्व, प्रभास नामक पवित्र स्थान पर भेजा गया जहाँ उन्होंने पुण्यकर्म किये और भोजन किया तथा जी भर कर मदपान किया। इसके बाद उन्हें अपने अपने धाम वापस भेजे जाने की व्यवस्था की गई, जिससे अन्य लोग यह देख

सकें कि शक्तिशाली यदुवंश अब इस जगत में नहीं रहा। पिछले श्लोक में अनुज्ञात शब्द महत्त्वपूर्ण है, जो यह सूचित करता है कि सम्पूर्ण घटनाक्रम की व्यवस्था भगवान् द्वारा की गई थी। भगवान् की ये विशिष्ट लीलाएँ उनकी बहिरंगा शक्ति अथवा भौतिक प्रकृति की अभिव्यक्ति नहीं हैं। उनकी अन्तरंगा शक्ति का ऐसा प्रदर्शन शाश्वत है, अतएव यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि यदु तथा भोज वंशी सामान्य भ्रातृघाती युद्ध में उन्मत्तावस्था में मरे। श्रील जीव गोस्वामी ने इन घटनाओं की टीका जादूगरी की कला के रूप में की है।

अहं चोक्तो भगवता प्रपन्नार्तिहरेण ह ।

बदरीं त्वं प्रयाहीति स्वकुलं सञ्जिहीर्षुणा ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; च—तथा; उक्तः—कहा गया; भगवता—भगवान् द्वारा; प्रपन्न—शरणागत का; आर्ति-हरेण—कष्टों को हरण करने वाले के द्वारा; ह—निस्सन्देह; बदरीम्—बदरी; त्वम्—तुम; प्रयाहि—जाओ; इति—इस प्रकार; स्व-कुलम्—अपने ही परिवार को; सञ्जिहीर्षुणा—विनष्ट करना चाहा।

भगवान् उनके कष्टों का विनाश करते हैं, जो उनके शरणागत हैं। अतएव जब उन्होंने अपने परिवार का विनाश करने की इच्छा की तो उन्होंने पहले ही बदरिकाश्रम जाने के लिए मुझसे कह दिया था।

तात्पर्य : उद्धव जब द्वारका में थे तो उन्हें उन कष्टों से बचने के लिए सचेत किया गया था, जो भगवान् के तिरोधान तथा यदुवंश के विनाश के बाद आने वाले थे। उन्हें बदरिकाश्रम जाने की सलाह दी गई थी, क्योंकि वहाँ वे नर-नारायण के भक्तों का सात्रिध्य प्राप्त कर सकते थे और उनकी भक्ति की संगति में वे कीर्तन, श्रवण, ज्ञान तथा वैराग्य की अपनी उत्सुकता में वृद्धि कर सकते थे।

तथापि तदभिप्रेतं जानन्नहमरिन्दम ।

पृष्ठतोऽन्वगमं भर्तुः पादविश्लेषणाक्षमः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तथा अपि—तिस पर भी; तत्-अभिप्रेतम्—उनकी इच्छा; जानन्—जानते हुए; अहम्—मैं; अरिम्-दम—हे शत्रुओं के दमनकर्ता (विदुर); पृष्ठतः—पीछे; अन्वगमम्—अनुसरण किया; भर्तुः—स्वामी का; पाद-विश्लेषण—उनके चरणकमलों से बिलगाव; अक्षमः—समर्थ न होकर।

हे अरिन्दम (विदुर), (वंश का विनाश करने की) उनकी इच्छा जानते हुए भी मैं उनका अनुसरण करता रहा, क्योंकि अपने स्वामी के चरणकमलों के बिछोह को सह पाना मेरे लिए

सम्भव न था ।

अद्राक्षमेकमासीनं विचिन्वन्दयितं पतिम् ।
श्रीनिकेतं सरस्वत्यां कृतकेतमकेतनम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अद्राक्षम्—मैंने देखा; एकम्—अकेले; आसीनम्—बैठे हुए; विचिन्वन्—गम्भीर चिन्तन करते हुए; दयितम्—संरक्षक;
पतिम्—स्वामी को; श्री-निकेतम्—लक्ष्मीजी के आश्रय को; सरस्वत्याम्—सरस्वती के तट पर; कृत-केतम्—आश्रय लिए हुए; अकेतनम्—बिना आश्रय के स्थित ।

इस तरह उनका पीछा करते हुए मैंने अपने संरक्षक तथा स्वामी (भगवान् श्रीकृष्ण) को सरस्वती नदी के तट पर आश्रय लेकर अकेले बैठे और गहन चिन्तन करते देखा, यद्यपि वे देवी लक्ष्मी के आश्रय हैं ।

तात्पर्य : जो लोग संन्यासी हो जाते हैं, वे प्रायः किसी वृक्ष के नीचे आश्रय लेते हैं । उद्धव ने भगवान् को उस स्थिति में आश्रय लिए हुए देखा जैसा आश्रयहीन व्यक्ति करते हैं । क्योंकि वे प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं, अतः उनका आश्रय हर स्थान पर है और हर स्थान उनके आश्रय में है । सम्पूर्ण भौतिक तथा आध्यात्मिक विराट जगत उन्हीं के द्वारा धारण किया हुआ है, अतएव वे हर वस्तु के आश्रय हैं । अतएव संन्यासियों की तरह आश्रयहीन होकर उनका आश्रय लेना तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं था ।

श्यामावदातं विरजं प्रशान्त्तारुणलोचनम् ।
दोर्भिश्चतुर्भिर्विदितं पीतकौशाम्बरेण च ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

श्याम-अवदातम्—श्याम वर्ण से सुन्दर; विरजम्—शुद्ध सतोगुण से निर्मित; प्रशान्त—शान्त; अरुण—लाल लाल; लोचनम्—नेत्र; दोर्भिः—भुजाओं द्वारा; चतुर्भिः—चार; विदितम्—पहचाने जाकर; पीत—पीला; कौश—रेशमी; अम्बरेण—वस्त्र से; च—तथा ।

भगवान् का शरीर श्यामल है, किन्तु वह सच्चिदानन्दमय है और अतीव सुन्दर है । उनके नेत्र सदैव शान्त रहते हैं और वे प्रातःकालीन उदय होते हुए सूर्य के समान लाल हैं । मैं उनके चार हाथों, विभिन्न प्रतीकों तथा पीले रेशमी वस्त्रों से तुरन्त पहचान गया कि वे भगवान् हैं ।

वाम ऊरावधिश्रित्य दक्षिणाङ्घ्रिसरोरुहम् ।

अपाश्रितार्भकाश्वत्थमकृशं त्यक्तपिप्पलम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

वामे—बाई; ऊरौ—जाँघ पर; अधिश्रित्य—रख कर; दक्षिण-अङ्घ्रि-सरोरुहम्—दाहिने चरणकमल को; अपाश्रित—टिका कर; अर्भक—छोटा; अश्वत्थम्—बरगद का वृक्ष; अकृशम्—प्रसन्न; त्यक्त—छोड़े हुए; पिप्पलम्—घरेलू आराम।

भगवान् अपना दाहिना चरण-कमल अपनी बाई जाँघ पर रखे एक छोटे से बरगद वृक्ष का सहारा लिए हुए बैठे थे। यद्यपि उन्होंने सारे घरेलू सुपास त्याग दिये थे, तथापि वे उस मुद्रा में पूर्ण रूपेण प्रसन्न दीख रहे थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भगवान् की बैठने की मुद्रा—नये बरगद के पेड़ पर पीठ टिकाये—भी अर्थपूर्ण है। बरगद का पेड़ अश्वत्थ इसलिए कहलाता है, क्योंकि यह तुरन्त नहीं नष्ट होता; यह अनेकानेक वर्षों तक जीवित रहता है। इस पेड़ के पाँव तथा उनकी शक्तियाँ भौतिक अवयव हैं जिनकी संख्या पाँच है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश। बरगद के पेड़ द्वारा प्रदर्शित भौतिक शक्तियाँ भगवान् की बहिरंगा शक्तियों की प्रतिफल हैं, अतएव वे उनकी पीठ के पीछे रखी गई हैं। चूँकि यह ब्रह्माण्ड सबसे छोटा है इसलिए बरगद के वृक्ष को छोटा या शिशु कहा गया है। त्यक्त-पिप्पलम् सूचित करता है कि अब वे इस छोटे से ब्रह्माण्ड में अपनी लीलाएँ समाप्त कर चुके थे, किन्तु भगवान् नित्य तथा सदैव आनन्दमय रहते हैं, इसलिए उनके द्वारा किसी वस्तु को त्यागने या स्वीकार करने में कोई अन्तर नहीं है। अब भगवान् इस ब्रह्माण्ड को त्यागने तथा किसी अन्य ब्रह्माण्ड में जाने के लिए तैयार थे, जिस तरह सूर्य किसी एक लोक में उदय होता है और उसी समय दूसरे में अस्त होता है, किन्तु इससे उसकी अपनी स्थिति परिवर्तित नहीं होती।

तस्मिन्महाभागवतो द्वैपायनसुहृत्सखा ।

लोकाननुचरन्सिद्ध आससाद यदृच्छया ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—तब; महा-भागवतः—भगवान् का महान् भक्त; द्वैपायन—कृष्ण द्वैपायन व्यास का; सुहृत्—हितैषी; सखा—मित्र; लोकान्—तीनों लोकों में; अनुचरन्—विचरण करते हुए; सिद्धे—उस आश्रम में; आससाद—पहुँचा; यदृच्छया—अपनी पूर्ण इच्छा से।

उसी समय संसार के अनेक भागों की यात्रा करके महान् भगवद्भक्त तथा महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास के मित्र एवं हितैषी मैत्रेय अपनी इच्छा से उस स्थान पर आ पहुँचे।

तात्पर्य : मैत्रेय व्यासदेव के पिता महर्षि पराशर के शिष्यों में से थे। इस तरह व्यासदेव तथा मैत्रेय

परस्पर मित्र तथा हितैषी थे। सौभाग्यवश मैत्रेय उस स्थान पर पहुँचे जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण विश्राम कर रहे थे। भगवान् से भेंट होना कोई सामान्य घटना नहीं है। मैत्रेय एक महर्षि तथा विद्वान् दार्शनिक थे, किन्तु शुद्ध भगवद्भक्त नहीं थे, अतएव उस समय भगवान् से उनकी भेंट किसी अज्ञात सुकृति अर्थात् अज्ञात भक्ति के कारण हुई होगी। शुद्ध भक्त सदैव शुद्ध भक्तिमय सेवा में लगे रहते हैं, अतएव भगवान् से उनकी भेंट स्वाभाविक है। किन्तु जब भगवान् से ऐसे लोग मिलते हैं, जो उस उचित स्तर पर नहीं होते, तो यह भेंट आकस्मिक भक्ति के अदृश्य भाग्य के कारण होती है।

तस्यानुरक्तस्य मुनेर्मुकुन्दः

प्रमोदभावानतकन्धरस्य ।

आश्रुण्वतो मामनुरागहास-

समीक्षया विश्रमयन्नुवाच ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अनुरक्तस्य—अनुरक्त का; मुनेः—मुनि (मैत्रेय) का; मुकुन्दः—मोक्ष प्रदान करने वाले भगवान्; प्रमोद-भाव—प्रसन्न मुद्रा में; आनत—नीचे किये; कन्धरस्य—कन्धों का; आश्रुण्वतः—इस तरह सुनते हुए; माम्—मुझको; अनुराग-हास—दयालु हँसी से; समीक्षया—मुझे विशेष रूप से देखकर; विश्र-मयन्—मुझे विश्राम पूरा करने देकर; उवाच—कहा।

मैत्रेय मुनि उनमें (भगवान् में) अत्यधिक अनुरक्त थे और वे अपना कंधा नीचे किये प्रसन्न मुद्रा में सुन रहे थे। मुझे विश्राम करने का समय देकर, भगवान् मुसकुराते हुए तथा विशेष चितवन से मुझसे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : यद्यपि उद्धव तथा मैत्रेय दोनों ही महात्मा थे, किन्तु भगवान् का ध्यान उद्धव पर अधिक था क्योंकि वे निष्कलंक शुद्ध भक्त थे। ज्ञान-भक्त अर्थात् वह जिसकी भक्ति एकत्ववाद के दृष्टिकोण से मिश्रित होती है, शुद्ध भक्त नहीं होता। यद्यपि मैत्रेय भक्त थे, किन्तु उनकी भक्ति मिश्रित थी। भगवान् दिव्य प्रेम के आधार पर अपने भक्तों से प्रतिदान करते हैं, ज्ञान या सकाम कर्मों के आधार पर नहीं। भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में एकत्ववाद ज्ञान अथवा सकाम कर्मों के लिए कोई स्थान नहीं होता। वृन्दावन की गोपियाँ न तो परम विद्वान् थीं, न योगी थीं। उनमें भगवान् के लिए रागानुग प्रेम था। अतः वे उनके प्राणाधार बन गए और गोपियाँ भी उनकी प्राणाधार हो गईं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भगवान् के साथ गोपियों के सम्बन्ध को सर्वोत्कृष्ट माना है। यहाँ पर उद्धव के प्रति भगवान् का दृष्टिकोण मैत्रेय मुनि की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ था।

श्रीभगवानुवाच
 वेदाहमन्तर्मनसीप्सितं ते
 ददामि यत्तदुवापमन्यैः ।
 सत्रे पुरा विश्वसृजां वसूनां
 मत्सिद्धिकामेन वसो त्वयेष्टः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच— भगवान् ने कहा; वेद—जानता हूँ; अहम्—मैं; अन्तः—भीतर; मनसि—मन में; ईप्सितम्—इच्छित; ते—तुम्हें; ददामि—देता हूँ; यत्—जो है; तत्—वह; दुवापम्—प्राप्त कर पाना अतीव कठिन; अन्यैः—अन्यों द्वारा; सत्रे—यज्ञ में; पुरा—प्राचीन काल में; विश्व-सृजाम्—इस सृष्टि का सृजन करने वालों के; वसूनाम्—वसुओं का; मत्-सिद्धि-कामेन—मेरी संगति प्राप्त करने की इच्छा से; वसो—हे वसु; त्वया—तुम्हारे द्वारा; इष्टः—जीवन का चरम लक्ष्य।

हे वसु, मैं तुम्हारे मन के भीतर से वह जानता हूँ, जिसे पाने की तुमने प्राचीन काल में इच्छा की थी जब विश्व के कार्यकलापों का विस्तार करने वाले वसुओं तथा देवताओं ने यज्ञ किये थे। तुमने विशेषरूप से मेरी संगति प्राप्त करने की इच्छा की थी। अन्य लोगों के लिए इसे प्राप्त कर पाना दुर्लभ है, किन्तु मैं तुम्हें यह प्रदान कर रहा हूँ।

तात्पर्य : उद्धव भगवान् के नित्यसंगियों में से एक हैं और उद्धव का स्वांश प्राचीन काल में आठ वसुओं में से एक था। आठ वसु तथा स्वर्गलोक के देवताओं ने, जो विश्व के कर्मों की व्यवस्था के लिए उत्तरदायी हैं, प्राचीन काल में अपने-अपने जीवन के चरम लक्ष्यों की पूर्ति की इच्छा से एक यज्ञ किया। उस समय उद्धव के एक अंश ने, एक वसु के रूप में, भगवान् का संगी बनने की इच्छा प्रकट की थी। भगवान् इसे जानते थे, क्योंकि वे हर जीव के हृदय में परमात्मा या पराचेतना के रूप में उपस्थित रहते हैं। हर एक के हृदय में पराचेतना का प्रतिनिधित्व होता है, जो हर जीव की आंशिक चेतना को स्मृति प्रदान करता है। आंशिक चेतना के रूप में जीव अपने विगत जीवन की घटनाएँ भूल जाता है, किन्तु पराचेतना उसे स्मरण कराती है कि ज्ञान के विगत अनुशीलन के अनुसार किस तरह कर्म किया जाय। भगवद्गीता में इस तथ्य की पुष्टि अनेक प्रकार से हुई है—ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् (भगवद्गीता ४.११) तथा सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च । (भगवद्गीता १५.१५)

हर जीव को अपनी पसंद के अनुसार इच्छा करने की छूट है, किन्तु इस इच्छा की पूर्ति भगवान् द्वारा की जाती है। हर व्यक्ति सोचने या इच्छा करने के लिए स्वतंत्र हैं, किन्तु उसकी पूर्ति परम इच्छा

पर निर्भर करती है। इस नियम को “मोरे मन कछु और है कर्ता के मन और” द्वारा व्यक्त किया जाता है। प्राचीन-काल में जब देवताओं तथा वसुओं ने यज्ञ किया, तो एक वसु के रूप में उद्धव ने भगवान् की संगति करने की इच्छा प्रकट की थी जो ज्ञानियों या सकाम कर्मियों के लिए अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसे लोगों को भगवान् का संगी बनने के विषय में कोई व्यावहारिक बातें ज्ञात नहीं होतीं। केवल शुद्ध भक्त भगवत्कृपा से ही जान सकते हैं कि भगवान् की निजी संगति जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है। भगवान् ने उद्धव को आश्वासन दिया कि वे उनकी इच्छा पूरी करेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि जब भगवान् ने संकेत द्वारा उद्धव को इसकी जानकारी दी तो महर्षि मैत्रेय भगवान् की संगति प्राप्त करने की महत्ता से अन्त में अवगत हो गए।

स एष साधो चरमो भवानाम्

आसादितस्ते मदनुग्रहो यत् ।

यन्मां नृलोकाग्रह उत्सृजन्तं

दिष्ट्या ददृश्वान्विशदानुवृत्त्या ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—उनका; साधो—हे साधु; चरमः—चरम; भवानाम्—तुम्हारे सारे अवतारों (वसु रूप में) में से; आसादितः—अब प्राप्त; ते—तुम पर; मत्—मेरी; अनुग्रहः—कृपा; यत्—जिस रूप में; यत्—क्योंकि; माम्—मुझको; नृ-लोकान्—बद्धजीवों के लोक; रहः—एकान्त में; उत्सृजन्तम्—त्यागते हुए; दिष्ट्या—देखने से; ददृश्वान्—जो तुम देख चुके हो; विशद-अनुवृत्त्या—अविचल भक्ति से।

हे साधु, तुम्हारा वर्तमान जीवन अन्तिम तथा सर्वोपरि है, क्योंकि तुम्हें इस जीवन में मेरी चरम कृपा प्राप्त हुई है। अब तुम बद्धजीवों के इस ब्रह्माण्ड को त्याग कर मेरे दिव्य धाम वैकुण्ठ जा सकते हो। तुम्हारी शुद्ध तथा अविचल भक्ति के कारण इस एकान्त स्थान में मेरे पास तुम्हारा आना तुम्हारे लिए महान् वरदान है।

तात्पर्य : मुक्तावस्था को प्राप्त एक परिपूर्ण जीवात्मा द्वारा जितना भगवत्ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है उससे जब वह पूर्णतया अवगत हो लेता है, तो उसे आध्यात्मिक आकाश में प्रवेश करने दिया जाता है जहाँ वैकुण्ठलोक विद्यमान हैं। भगवान् एकान्त में इस ब्रह्माण्ड के निवासियों की दृष्टि से अन्तर्धान होने के लिए बैठे हुए थे और ऐसे समय में भी उनका दर्शन करने और इस तरह वैकुण्ठ में प्रवेश करने के लिए उनकी अनुमति पाने के लिए उद्धव भाग्यशाली थे। भगवान् सदैव सर्वत्र रहते हैं और उनका प्राकट्य तथा अन्तर्धान होना किसी विशेष ब्रह्माण्ड के निवासियों का अनुभव मात्र है। वे

सूर्यवत् हैं। सूर्य आकाश में प्रकट या अन्तर्धान नहीं होता। यह तो लोगों का अनुभव है कि सूर्य प्रातःकाल उदय होता है और सांयकाल अस्त हो जाता है। भगवान् एक ही समय वैकुण्ठ में तथा वैकुण्ठ के भीतर तथा बाहर सर्वत्र रहते हैं।

पुरा मया प्रोक्तमजाय नाभ्ये
पद्मे निषण्णाय ममादिसर्गे ।
ज्ञानं परं मन्महिमावभासं
यत्सूरयो भागवतं वदन्ति ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

पुरा—प्राचीन काल में; मया—मेरे द्वारा; प्रोक्तम्—कहा गया था; अजाय—ब्रह्मा से; नाभ्ये—नाभि से बाहर; पद्मे—कमल पर; निषण्णाय—स्थित; मम—मेरा; आदि-सर्गे—सृष्टि के प्रारम्भ में; ज्ञानम्—ज्ञान; परम्—परम; मत्-महिमा—मेरी दिव्य कीर्ति; अवभासम्—जो निर्मल बनाती है; यत्—जिसे; सूरयः—महान् विद्वान् मुनि; भागवतम्—श्रीमद्भागवत; वदन्ति—कहते हैं।

हे उद्भव, प्राचीन काल में कमल कल्प में, सृष्टि के प्रारम्भ में मैंने अपनी नाभि से उगे हुए कमल पर स्थित ब्रह्मा से अपनी उस दिव्य महिमाओं के विषय में बतलाया था, जिसे बड़े-बड़े मुनि श्रीमद्भागवत कहते हैं।

तात्पर्य : परमात्मा विषयक जो व्याख्या ब्रह्मा से कही गई तथा जो इस ग्रन्थ के द्वितीय स्कन्ध में पहले ही बताई गई है, उसका और अधिक स्पष्टीकरण यहाँ पर हुआ है। भगवान् ने कहा कि ब्रह्मा को बतलाया गया श्रीमद्भागवत का संक्षिप्त रूप मेरे व्यष्टित्व स्वरूप की व्याख्या के लिए था। द्वितीय स्कन्ध के उन चार श्लोकों की निर्विशेष व्याख्या यहीं निरस्त हो जाती हैं। इस सन्दर्भ में श्रीधर स्वामी ने भी व्याख्या की है कि भागवत का वही संक्षिप्त रूप भगवान् कृष्ण की लीलाओं से सम्बन्धित था और वह निर्विशेष तोषण के लिए कदापि नहीं था।

इत्यादतोक्तः परमस्य पुंसः
प्रतिक्षणानुग्रहभाजनोऽहम् ।
स्नेहोत्थरोमा स्खलिताक्षरस्तं
मुञ्चञ्छुचः प्राञ्जलिराबभाषे ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; आदत—अनुग्रह किये गये; उक्तः—सम्बोधित; परमस्य—परम का; पुंसः—भगवान्; प्रतिक्षण—हर क्षण; अनुग्रह-भाजनः—कृपापात्र; अहम्—मैं; स्नेह—स्नेह; उथ—विस्फोट; रोमा—शरीर के रोएँ; स्खलित—शिथिल; अक्षरः—आँखों के; तम्—उसको; मुञ्चन्—पोंछकर; शुचः—आँसू; प्राञ्जलिः—हाथ जोड़े; आबभाषे—कहा।

उद्धव ने कहा : हे विदुर, जब मैं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा इस प्रकार से प्रतिक्षण कृपाभाजन बना हुआ था और उनके द्वारा अतीव स्नेहपूर्वक सम्बोधित किया जा रहा था, तो मेरी वाणी रुक कर आँसुओं के रूप में बह निकली और मेरे शरीर के रोम खड़े हो गये। अपने आँसू पोछ कर और दोनों हाथ जोड़ कर मैं इस प्रकार बोला।

को न्वीश ते पादसरोजभाजां
सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह ।
तथापि नाहं प्रवृणोमि भूमन्
भवत्पदाम्भोजनिषेवणोत्सुकः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

कः नु ईश—हे प्रभु; ते—तुम्हारे; पाद-सरोज-भाजाम्—आपके चरणकमलों की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे भक्तों के; सु-दुर्लभः—प्राप्त कर पाना अतीव कठिन; अर्थेषु—विषय में; चतुर्षु—चार पुरुषार्थों के; अपि—बावजूद; इह—इस जगत में; तथा अपि—फिर भी; न—नहीं; अहम्—मैं; प्रवृणोमि—वरीयता प्रदान करता हूँ; भूमन्—हे महात्मन्; भवत्—आपके; पद-अम्भोज—चरणकमल; निषेवण-उत्सुकः—सेवा करने के लिए उत्सुक।

हे प्रभु, जो भक्तगण आपके चरणकमलों की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे हुए हैं उन्हें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों के क्षेत्र में कुछ भी प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती। किन्तु हे भूमन्, जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मैंने आपके चरणकमलों की प्रेमाभक्ति में ही अपने को लगाना श्रेयस्कर माना है।

तात्पर्य : जो लोग वैकुण्ठलोक में भगवान् के सान्निध्य में हैं, वे भगवान् के सारे शारीरिक गुण प्राप्त कर लेते हैं और भगवान् विष्णु जैसे ही प्रतीत होते हैं। ऐसी मुक्ति सारूप्य-मुक्ति कहलाती है, जो पाँच प्रकार की मुक्तियों में से एक है। भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे भक्तगण सायुज्य-मुक्ति को कभी भी स्वीकार नहीं करते जो ब्रह्मज्योति में तादात्म्य है। भक्तगण न केवल मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, अपितु धर्म, अर्थ, अथवा काम के क्षेत्र में स्वर्ग में स्थित देवताओं के स्तर की कोई भी सफलता प्राप्त कर सकते हैं किन्तु उद्धव जैसे भक्त को ऐसी समस्त सुविधाएँ स्वीकार्य नहीं हैं। शुद्ध भक्त एकमात्र भगवान् की सेवा में लगा रहना चाहता है; वह अपने निजी लाभ पर विचार नहीं करता।

कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते
दुर्गाश्रयोऽथारिभयात्पलायनम् ।

कालात्मनो यत्प्रमदायुताश्रमः

स्वात्मत्रतेः खिद्यति धीर्विदामिह ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

कर्माणि—कर्म; अनीहस्य—न चाहने वाले का; भवः—जन्म; अभवस्य—कभी भी न जन्मे का; ते—तुम्हारा; दुर्ग-आश्रयः—किले की शरण लेकर; अथ—तत्पश्चात्; अरि-भयात्—शत्रु के डर से; पलायनम्—पलायन, भागना; काल-आत्मनः—नित्यकाल के नियन्ता का; यत्—जो; प्रमदा-आयुत—स्त्रियों की संगति में; आश्रमः—गृहस्थ जीवन; स्व-आत्मन्—अपनी आत्मा में; रतेः—रमण करने वाली; खिद्यति—विचलित होती है; धीः—बुद्धि; विदाम्—विद्वान की; इह—इस जगत में।

हे प्रभु, विद्वान मुनियों की बुद्धि भी विचलित हो उठती है जब वे देखते हैं कि आप समस्त इच्छाओं से मुक्त होते हुए भी सकाम कर्म में लगे रहते हैं; अजन्मा होकर भी जन्म लेते हैं; अजेय काल के नियन्ता होते हुए भी शत्रुभय से पलायन करके दुर्ग में शरण लेते हैं तथा अपनी आत्मा में रमण करते हुए भी आप अनेक स्त्रियों से घिरे रहकर गृहस्थ जीवन का आनन्द लेते हैं।

तात्पर्य : भगवान् के शुद्ध भक्त भगवान् के दिव्य ज्ञान विषयक दार्शनिक चिन्तन से बहुत अधिक वास्ता नहीं रखते। न ही भगवान् का पूर्णज्ञान प्राप्त कर पाना सम्भव है। उन्हें भगवान् के विषय में जो भी अल्पज्ञान रहता है, वह उनके लिए पर्याप्त होता है, क्योंकि भक्तगण भगवान् की दिव्य लीलाओं के श्रवण तथा कीर्तन से ही तुष्ट रहते हैं। इससे उन्हें समस्त दिव्य आनन्द मिलता है। किन्तु भगवान् की कुछ लीलाएँ इन शुद्ध भक्तों तक को परस्पर विरोधी प्रतीत होती हैं। अतः उद्धव ने भगवान् से उनकी लीलाओं की कुछ परस्पर विरोधी घटनाओं के विषय में पूछा। ऐसा वर्णन किया जाता है कि भगवान् को स्वयं कुछ नहीं करना पड़ता और वस्तुतः ऐसा ही है, क्योंकि भौतिक जगत की सृष्टि तथा उसके पालन तक में भगवान् को कुछ नहीं करना होता। तब यह सुनना विरोधी प्रतीत होता है कि भगवान् अपने शुद्ध भक्तों की रक्षा हेतु गोवर्धन पर्वत को स्वयं उठाते हैं। भगवान् तो परब्रह्म, परम सत्य हैं, जो मनुष्य की तरह प्रकट होते हैं, किन्तु उद्धव को संदेह था कि क्या वे अनेक दिव्य कार्य कर सकते हैं।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तथा निर्विशेष ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। तो फिर भगवान् को इतने सारे कार्य कैसे करने होते हैं, जबकि निर्विशेष ब्रह्म के लिए यह कहा गया है कि उन्हें भौतिक या आध्यात्मिक रूप से कुछ भी नहीं करना पड़ता? यदि भगवान् सदा अजन्मा हैं, तो फिर वे वसुदेव तथा देवकी के पुत्र रूप में कैसे जन्म लेते हैं? वे काल के लिए भी भयावने हैं, फिर भी वे जरासन्ध से लड़ने से भयभीत रहते हैं और दुर्ग में शरण लेते हैं। जो अपने में पूर्ण हों वे किस तरह अनेक स्त्रियों की संगति में रस लेते हैं? वे किस तरह पत्नियाँ स्वीकार करते हैं और गृहस्थ की तरह पारिवारिक-

जनों, सन्तानों, सम्बन्धियों, तथा माता-पिता में आनन्द पाते हैं ? ये सारी परस्पर विरोधी दिखने वाली घटनाएँ बड़े से बड़े विद्वान को विमोहित करती हैं, जो इस तरह मोहित होने के कारण यह नहीं समझ पाते कि अकर्मण्यता तथ्य है या उनके कार्यकलाप मात्र अनुकृत्य नकल हैं ।

इसका हल यह है कि भगवान् को किसी भी संसारी वस्तु से कोई सरोकार नहीं होता । उनके सारे कार्यकलाप दिव्य हैं । इसे संसारी चिन्तक नहीं समझ पाते । संसारी चिन्तकों के लिए निश्चय ही एक प्रकार का मोह होता है, किन्तु दिव्य भक्तों के लिए इसमें कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं होता । परम सत्य की ब्रह्म धारणा निश्चय ही समस्त संसारी कार्यों से नकारती है किन्तु परब्रह्म अवधारणा दिव्य कार्यों से ओतप्रोत है । जो व्यक्ति ब्रह्म तथा परब्रह्म अवधारणाओं के अन्तर को जानता है, वही असली योगी अर्थात् अध्यात्मवादी है । ऐसे योगियों के लिए कोई विभ्रम नहीं होता । *भगवद्गीता* (१०.२) में भगवान् स्वयं भी घोषित करते हैं “बड़े बड़े मुनि तथा देवता तक मेरे कार्यों तथा मेरी दिव्य शक्तियों के बारे में कुछ नहीं जान सकते ।” भगवान् के कार्यों की सही व्याख्या भीष्म पितामह ने (*भागवत* १.९.१६) इस प्रकार की है—

न ह्यस्य कर्हिचिद् राजन् पुमान् वेद विधित्सितम् ।

यद् विजिज्ञासया युक्ता मुह्यन्ति कवयोपि हि ॥

मन्त्रेषु मां वा उपहूय यत्त्व-

मकुण्ठिताखण्डसदात्मबोधः ।

पृच्छेः प्रभो मुग्ध इवाप्रमत्तस्

तन्नो मनो मोहयतीव देव ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

मन्त्रेषु—मन्त्रणाओं या परामर्शों में; माम्—मुझको; वै—अथवा; उपहूय—बुलाकर; यत्—जितना; त्वम्—आप; अकुण्ठित—बिना हिचक के; अखण्ड—विना अलग हुए; सदा—सदैव; आत्म—आत्मा; बोधः—बुद्धिमान; पृच्छेः—पूछे; प्रभो—हे प्रभु; मुग्धः—मोहग्रस्त; इव—मानो; अप्रमत्तः—यद्यपि कभी मोहित नहीं होता; तत्—वह; नः—हमारा; मनः—मन; मोहयति—मोहित करता है; इव—मानो; देव—हे प्रभु ।

हे प्रभु, आपकी नित्य आत्मा कभी भी काल के प्रभाव से विभाजित नहीं होती और आपके पूर्णज्ञान की कोई सीमा नहीं है । इस तरह आप अपने आप से परामर्श लेने में पर्याप्त सक्षम थे, किन्तु फिर भी आपने परामर्श के लिए मुझे बुलाया मानो आप मोहग्रस्त हो गए हैं, यद्यपि आप कभी भी मोहग्रस्त नहीं होते । आपका यह कार्य मुझे मोहग्रस्त कर रहा है ।

तात्पर्य : उद्धव वास्तव में कभी भी मोहग्रस्त नहीं थे, किन्तु वे कहते हैं कि ये सभी विरोधी बातें मोहग्रस्त बनाने वाली प्रतीत होती हैं। कृष्ण तथा उद्धव के बीच का सारा विचार-विमर्श मैत्रेय के लाभार्थ था, जो पास ही बैठे थे। भगवान् उद्धव को परामर्श के लिए बुलाते रहते थे जब नगर पर जरासन्ध तथा अन्यो ने आक्रमण किया था और जब उन्होंने द्वारकाधीश के रूप में अपनी नैतिक राजसी कार्य के अंग स्वरूप महान् यज्ञ किये थे। भगवान् के लिए कोई भूत, वर्तमान तथा भविष्य नहीं होता, क्योंकि शाश्वत काल का उन पर कोई प्रभाव नहीं होता और उनसे कुछ भी छुपा नहीं है। वे शाश्वत आत्म-प्रबुद्ध हैं। अतएव परामर्श-रूपी प्रकाश पाने के लिए उनका उद्धव को बुलाना निश्चित रूप से आश्चर्यप्रद है। भगवान् के ये सारे कार्य परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, यद्यपि भगवान् के नैतिक कार्यों में कोई विरोध नहीं है। इसलिए उन्हें उसी रूप में देखना अच्छा होगा और उनकी व्याख्या करने का कोई प्रयास नहीं किया जाना चाहिए।

ज्ञानं परं स्वात्परहःप्रकाशं

प्रोवाच कस्मै भगवान्समग्रम् ।

अपि क्षमं नो ग्रहणाय भर्त-

र्वदाञ्जसा यद्वृजिनं तरेम ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—ज्ञान; परम्—परम; स्व-आत्म—निजी आत्मा; रहः—रहस्य; प्रकाशम्—प्रकाश; प्रोवाच—कहा; कस्मै—क (ब्रह्माजी) से; भगवान्—भगवान्; समग्रम्—पूर्ण रूपेण; अपि—यदि ऐसा; क्षमम्—समर्थ; नः—मुझको; ग्रहणाय—स्वीकार्य; भर्तः—हे प्रभु; वद—कहें; अञ्जसा—विस्तार से; यत्—जिससे; वृजिनम्—कष्टों को; तरेम—पार कर सकूँ।

हे प्रभु, यदि आप हमें समझ सकने के लिए सक्षम समझते हों तो आप हमें वह दिव्य ज्ञान बतलाएँ जो आपके विषय में प्रकाश डालता हो और जिसे आपने इसके पूर्व ब्रह्माजी को बतलाया है।

तात्पर्य : उद्धव जैसे शुद्ध भक्त को भौतिक क्लेश नहीं होते, क्योंकि वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर लगा रहता है। एक भक्त भगवान् के सान्निध्य के बिना दुखी रहता है। भगवान् के कार्यों का सतत स्मरण भक्त को जीवित रखता है, अतएव उद्धव ने भगवान् से प्रार्थना की कि वे उन्हें भी ब्रह्माजी को पहले उपदेशित किए गये *श्रीमद्भागवत* के ज्ञान से प्रबुद्ध करें।

इत्यावेदितहार्दाय मह्यं स भगवान्परः ।

आदिदेशारविन्दाक्ष आत्मनः परमां स्थितिम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

इति आवेदित—मेरे द्वारा इस प्रकार प्रार्थना किये जाने पर; हार्दाय—मेरे हृदय के भीतर से; मह्यम्—मुझको; सः—उन; भगवान्—भगवान् ने; परः—परम; आदिदेश—आदेश दिया; अरविन्द-अक्षः—कमल जैसे नेत्रों वाला; आत्मनः—अपनी ही; परमाम्—दिव्य; स्थितिम्—स्थिति ।

जब मैंने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से अपनी यह हार्दिक इच्छा व्यक्त की तो कमलनेत्र भगवान् ने मुझे अपनी दिव्य स्थिति के विषय में उपदेश दिया ।

तात्पर्य : इस श्लोक में परमाम् स्थितिम् शब्द महत्त्वपूर्ण हैं । भगवान् की दिव्य स्थिति के विषय में तब भी ब्रह्माजी से कुछ नहीं कहा गया था जब श्रीमद्भागवत के चार श्लोकों (२.९.३३-३६) की व्याख्या की गई थी । यह दिव्य स्थिति द्वारका तथा वृन्दावन में प्रदर्शित उन भक्तों के प्रति भगवान् के बर्तावों से युक्त है, जो उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे हुए थे । जब भगवान् ने अपनी विशिष्ट दिव्य स्थिति की व्याख्या की तो वह उद्धव के ही लिए थी, इसलिए उद्धव ने विशेष रूप से मह्यम् (मुझको) कहा, यद्यपि महर्षि मैत्रेय भी वहीं बैठे थे । ऐसी दिव्य स्थिति उन लोगों की समझ में नहीं आती जिनकी भक्ति ज्ञान या सकाम कर्मों से मिश्रित होती है । भगवान् के गुह्य प्रेम के कार्यकलाप उन सामान्य भक्तों को विरले ही प्रकट किये जाते हैं, जो ज्ञान तथा योग से मिश्रित भक्ति द्वारा आकृष्ट रहते हैं । ऐसे कार्यकलाप भगवान् की अचिन्त्य लीलाएँ होते हैं ।

स एवमाराधितपादतीर्थाद्

अधीततत्त्वात्मविबोधमार्गः ।

प्रणम्य पादौ परिवृत्य देव-

मिहागतोऽहं विरहातुरात्मा ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सः—अतएव मैं; एवम्—इस प्रकार; आराधित—पूजित; पाद-तीर्थात्—भगवान् से; अधीत—अध्ययन किया हुआ; तत्त्व-आत्म—आत्मज्ञान; विबोध—ज्ञान, जानकारी; मार्गः—पथ; प्रणम्य—प्रणाम करके; पादौ—उनके चरणकमलों पर; परिवृत्य—प्रदक्षिणा करके; देवम्—भगवान्; इह—इस स्थान पर; आगतः—पहुँचा; अहम्—मैं; विरह—वियोग; आतुर-आत्मा—आत्मा में दुखी, दुखित आत्मा से ।

मैंने अपने आध्यात्मिक गुरु भगवान् से आत्मज्ञान के मार्ग का अध्ययन किया है, अतएव उनकी प्रदक्षिणा करके मैं उनके विरह-शोक से पीड़ित होकर इस स्थान पर आया हूँ ।

तात्पर्य : श्री उद्धव का वास्तविक जीवन चतुः श्लोकी भागवत का प्रत्यक्ष प्रतीक है, जिसे

भगवान् ने सर्वप्रथम ब्रह्माजी से कहा था। *श्रीमद्भागवत* के इन अत्यन्त महान् तथा महत्त्वपूर्ण श्लोकों को मायावादी चिन्तक, विशेष रूप से अलग करके, अपने अद्वैतवादी निर्विशेष मत का अनुमोदन करने के लिए इनका भिन्न तात्पर्य निकालते हैं। यहाँ पर ऐसे अनधिकृत चिन्तकों के लिए सही उत्तर दिया गया है। *श्रीमद्भागवत* के श्लोक शुद्ध आस्तिक विज्ञान हैं, जिन्हें *भगवद्गीता* के परास्नातक अध्येता समझ सकते हैं। अनधिकृत शुष्क चिन्तक तो भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों पर अपराधी हैं, क्योंकि वे लोग जनता को गुमराह करने के लिए *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के तात्पर्यों को तोड़ते मरोड़ते हैं और इस तरह अन्धतामिस्र नामक नरक में जाने का सीधा मार्ग प्रशस्त करते हैं। *भगवद्गीता* (१६.२०) में पुष्टि की गई है कि ऐसे ईर्ष्यालु चिन्तक ज्ञानरहित होते हैं और जन्म-जन्मांतर निन्दा के पात्र बनते हैं। वे व्यर्थ ही श्रीपाद शंकराचार्य का आश्रय लेते हैं, जो स्वयं इतने उग्र न थे कि भगवान् कृष्ण के चरणकमलों पर अपराध करते। श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुसार श्रीपाद शंकराचार्य ने किसी विशेष उद्देश्य से मायावाद दर्शन का प्रचार किया। ऐसा दर्शन आत्मा के अनस्तित्व वाले बौद्ध दर्शन को परास्त करने के लिए आवश्यक था। किन्तु इसका उद्देश्य शाश्वत स्वीकृति के लिए कभी नहीं था। यह एक आकस्मिता थी। इसीलिए शंकराचार्य ने *भगवद्गीता* पर लिखे अपने भाष्य में कृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् स्वीकार किया। चूँकि वे कृष्ण के महान् भक्त थे, अतएव उन्होंने *श्रीमद्भागवत* पर कोई टीका लिखने का दुस्साहस नहीं किया, क्योंकि यह भगवान् के चरणकमलों पर सीधा अपराध होता। किन्तु मायावाद दर्शन के नाम पर परवर्ती-चिन्तक बिना किसी प्रामाणिक उद्देश्य के चतुःश्लोकी *भागवत* पर अपनी टीका करते हैं।

अद्वैतवादी शुष्क चिन्तकों का *श्रीमद्भागवत* से कोई सरोकार नहीं है, क्योंकि इस विशेष वैदिक ग्रंथ के महान् प्रणेता ने स्वयं इसका निषेध उनके लिए किया है। श्रील व्यासदेव ने धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में लगे हुए व्यक्तियों को *श्रीमद्भागवत* के समझने का प्रयास करने के लिए निश्चित रूप से मना किया है, क्योंकि यह ग्रन्थ उनके लिए नहीं है। (*भागवत* १.१.२) *श्रीमद्भागवत* के महान् टीकाकार श्रीपाद श्रीधर स्वामी ने मोक्षवादियों या अद्वैतवादियों को *श्रीमद्भागवत* के विषय में कुछ भी सरोकार रखने से मना किया है। यह उनके लिए नहीं है। फिर भी ऐसे अनधिकृत व्यक्ति *श्रीमद्भागवत* को समझने का हठपूर्वक प्रयास करते हैं, जो दुस्साहस श्रीपाद शंकराचार्य तक नहीं कर सके। इस तरह

वे भगवान् के चरणकमलों पर अपराध करते रहते हैं और अपना दुखी जीवन बनाये रखते हैं। यहाँ पर यह विशेष ध्यान देने की बात है कि उद्धव ने *चतुःश्लोकी भागवत* सीधे भगवान् से पढ़ी जिन्होंने इसे सर्वप्रथम ब्रह्माजी से कहा और इस बार *परमां स्थितिं* के रूप में आत्मज्ञान की अधिक गुह्य रूप से व्याख्या की। प्रेम के ऐसे आत्मज्ञान को सीख कर उद्धव भगवान् के विरह भावों से अत्यधिक दुखी हुए। जब तक उद्धव की अवस्था तक जागृत न हो लिया जाय तब तक *श्रीमद्भागवत* के इन चार अनिवार्य श्लोकों का असली अर्थ नहीं समझा जा सकता। उद्धव जैसी अविरत वियोग की यह अवस्था श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी प्रकट की थी। किसी को *श्रीमद्भागवत* के अर्थ को तोड़ने मरोड़ने के अनधिकृत कार्य में प्रवृत्त होकर अपराध के घातक मार्ग पर अपने को नहीं डालना चाहिए।

सोऽहं तद्दर्शनाह्लादवियोगार्तियुतः प्रभो ।
गमिष्ये दयितं तस्य बदर्याश्रममण्डलम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सः अहम्—इस तरह स्वयं मैं; तत्—उसका; दर्शन—दर्शन; आह्लाद—आनन्द के; वियोग—विरह; आर्ति-युतः—दुख से पीड़ित; प्रभो—हे प्रभु; गमिष्ये—जाऊँगा; दयितम्—इस तरह उपदेश दिया गया; तस्य—उसका; बदर्याश्रम—हिमालय स्थित बदरिकाश्रम; मण्डलम्—संगति।

हे विदुर, अब मैं उनके दर्शन से मिलने वाले आनन्द के अभाव में पागल हो रहा हूँ और इसे कम करने के लिए ही अब मैं संगति के लिए हिमालय स्थित बदरिकाश्रम जा रहा हूँ जैसा कि उन्होंने मुझे आदेश दिया है।

तात्पर्य : उद्धव के स्तर का शुद्ध भगवद्भक्त एकसाथ विरह तथा मिलन की दुहरी अनुभूति में निरन्तर भगवान् की संगति करता है। शुद्ध भक्त क्षण भर भी भगवान् की दिव्य सेवा से विरत नहीं होता। भगवान् की सेवा करना ही शुद्ध भक्त का मुख्य कार्य है। उद्धव को भगवान् का वियोग असह्य था, अतएव भगवान् के आदेश का पालन करने के लिए ही वे बदरिकाश्रम के लिए चल पड़े, क्योंकि भगवान् का आदेश तथा भगवान् अभिन्न हैं। जब तक मनुष्य भगवान् के आदेश का पालन करने में सचेष्ट रहता है तब तक उनसे वास्तविक वियोग नहीं सताता।

यत्र नारायणो देवो नरश्च भगवानृषिः ।
मृदु तीव्रं तपो दीर्घं तेपाते लोकभावनौ ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; नारायणः—भगवान्; देवः—अवतार से; नरः—मनुष्य; च—भी; भगवान्—स्वामी; ऋषिः—ऋषि; मृदु—मिलनसार; तीव्रम्—कठिन; तपः—तपस्या; दीर्घम्—दीर्घकाल; तेपाते—करते हुए; लोक-भावनौ—सारे जीवों का मंगल।

वहाँ बदरिकाश्रम में नर तथा नारायण ऋषियों के रूप में अपने अवतार में भगवान् अनादिकाल से समस्त मिलनसार जीवों के कल्याण हेतु महान् तपस्या कर रहे हैं।

तात्पर्य : हिमालय स्थित बदरिकाश्रम नर-नारायण ऋषियों का धाम है और हिन्दुओं का एक महान् तीर्थस्थल है। अभी भी लाखों पवित्र हिन्दू लोग भगवान् के अवतार नर नारायण के प्रति श्रद्धा अर्पित करने जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पाँच हजार वर्ष पूर्व भी उद्धव जैसे पवित्र व्यक्ति इस भारी स्थल में जाते थे और उस समय भी यह अत्यन्त प्राचीन स्थान के नाम से विख्यात था। सामान्य लोगों के लिए इस विशेष तीर्थस्थल तक पहुँच पाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि हिमालय में यह विकट जगह पर स्थित है, जो प्रायः वर्ष भर बर्फ से ढकी रहती है। ग्रीष्म-ऋतु के कुछ महीनों में ही महान् व्यक्तिगत असुविधा सहन करके लोग इस स्थान को जा सकते हैं। इस पृथ्वी पर चार धाम अर्थात् ईश्वर के राज्य हैं, जो आध्यात्मिक आकाश के लोकों के प्रतीक हैं जिनमें ब्रह्मज्योति तथा वैकुण्ठलोक आते हैं। ये चार धाम हैं—बदरिकाश्रम, रामेश्वर, जगन्नाथ पुरी तथा द्वारका। श्रद्धालु हिन्दू आध्यात्मिक साक्षात्कार की सिद्धि हेतु उद्धव जैसे भक्तों के चरणचिह्नों का अनुसरण करते हुए अब भी इन सभी पवित्र स्थानों में जाते हैं।

श्रीशुक उवाच

इत्युद्धवादुपाकर्ण्य सुहृदां दुःसहं वधम् ।

ज्ञानेनाशमयत्क्षत्ता शोकमुत्पतितं बुधः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकगोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उद्धवात्—उद्धव से; उपाकर्ण्य—सुनकर; सुहृदाम्—मित्रों तथा सम्बन्धियों का; दुःसहम्—असह्य; वधम्—संहार; ज्ञानेन—दिव्य ज्ञान से; अशमयत्—स्वयं को सान्त्वना दी; क्षत्ता—विदुर ने; शोकम्—वियोग; उत्पतितम्—उत्पन्न हुआ; बुधः—विद्वान्।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : उद्धव से अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों के संहार के विषय में सुनकर विद्वान् विदुर ने स्वयं के दिव्य ज्ञान के बल पर अपने असह्य शोक को प्रशमित किया।

तात्पर्य : विदुर को बताया गया कि कुरुक्षेत्र के युद्ध के परिणाम-स्वरूप उनके मित्रों तथा सम्बन्धियों के संहार के साथ-साथ यदुवंश का विनाश तथा भगवान् का प्रयाण हो चुका है। इन सबसे

कुछ समय तक वे शोकाकुल हो उठे, किन्तु दिव्य ज्ञान में अत्यधिक बढ़े-चढ़े होने से वे अपने को उस ज्ञान द्वारा शान्त करने में पर्याप्त समर्थ थे। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, शारीरिक सम्बन्धों के साथ दीर्घकालीन संगति के फलस्वरूप मित्रों तथा सम्बन्धियों के संहार के कारण शोक का होना तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं है, किन्तु मनुष्य को उच्चतर दिव्य ज्ञान के द्वारा ऐसे शोक को दमित करने की कला सीखनी चाहिए। उद्धव तथा विदुर के बीच कृष्ण विषयक वार्ता की शुरुआत संध्या समय हुई और अब उद्धव की संगति से विदुर का ज्ञान और भी बढ़ गया।

स तं महाभागवतं ब्रजन्तं कौरवर्षभः ।

विश्रम्भादभ्यधत्तेदं मुख्यं कृष्णपरिग्रहे ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

सः—विदुर ने; तम्—उद्धव से; महा-भागवतम्—भगवान् का महान् भक्त; ब्रजन्तम्—जाते हुए; कौरव-ऋषभः—कौरवों में सर्वश्रेष्ठ; विश्रम्भात्—विश्वास वश; अभ्यधत्त—निवेदन किया; इदम्—यह; मुख्यम्—प्रधान; कृष्ण—भगवान् कृष्ण की; परिग्रहे—भगवद्भक्ति में।

भगवान् के प्रमुख तथा अत्यन्त विश्वस्त भक्त उद्धव जब जाने लगे तो विदुर ने स्नेह तथा विश्वास के साथ उनसे प्रश्न किया।

तात्पर्य : विदुर उद्धव से काफी बड़े थे। पारिवारिक सम्बन्ध में उद्धव कृष्ण के समकालीन भाई थे जबकि विदुर कृष्ण के पिता वसुदेव की उम्र के थे। किन्तु उद्धव उम्र में कम होते हुए भी भगवद्भक्ति में अत्यधिक बढ़े-चढ़े थे, इसीलिए उन्हें यहाँ पर भगवान् के भक्तों में प्रमुख कहा गया है। विदुर को इसका विश्वास था, अतः उन्होंने उद्धव को उसी उच्चतर श्रेणी का मान कर सम्बोधित किया। दो भक्तों के बीच शिष्ट बर्ताव की यही रीति है।

विदुर उवाच

ज्ञानं परं स्वात्मरहःप्रकाशं

यदाह योगेश्वर ईश्वरस्ते ।

वक्तुं भवान्नोऽर्हति यद्धि विष्णो

भृत्याः स्वभृत्यार्थकृतश्चरन्ति ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; ज्ञानम्—ज्ञान; परम्—दिव्य; स्व-आत्म—आत्मा विषयक; रहः—रहस्य; प्रकाशम्—प्रबुद्धता; यत्—जो; आह—कहा; योग-ईश्वरः—समस्त योगों के स्वामी; ईश्वरः—भगवान् ने; ते—तुमसे; वक्तुम्—कहने के लिए;

भगवान्—आप; नः—मुझसे; अर्हति—योग्य हैं; यत्—क्योंकि; हि—कारण से; विष्णोः—भगवान् विष्णु के; भृत्याः—सेवक; स्व-भृत्य-अर्थ-कृतः—अपने सेवकों के हित के लिए; चरन्ति—विचरण करते हैं।

विदुर ने कहा : हे उद्धव, चूँकि भगवान् विष्णु के सेवक अन्यो की सेवा के लिए विचरण करते हैं, अतः यह उचित ही है कि आप उस आत्मज्ञान का वर्णन करें जिससे स्वयं भगवान् ने आपको प्रबुद्ध किया है।

तात्पर्य : भगवान् के सेवक वास्तव में समाज के सेवक होते हैं। मानव समाज को दिव्य ज्ञान में प्रबुद्ध बनाने के अतिरिक्त उनकी कोई रुचि नहीं होती। वे परमेश्वर से जीव के सम्बन्ध, उस दिव्य सम्बन्ध में कार्यकलाप तथा मानव जीवन के चरम उद्देश्य विषयक ज्ञान को प्रदान करने में रुचि लेते हैं। यही असली ज्ञान है, जो मानव कल्याण के असली लक्ष्य को प्राप्त करने में समाज की सहायता कर सकता है। खाने, सोने, संभोग करने तथा भयभीत रहने की शारीरिक आवश्यकताओं से सम्बन्धित ज्ञान उन्नति की विविध शाखाओं में रूपान्तरित होकर भी नश्वर होता है। जीव भौतिक शरीर नहीं, अपितु परम पुरुष का नित्य अंश है, अतः उसके आत्मज्ञान को पुनर्जागरित करना आवश्यक है। इस ज्ञान के बिना मानव-जीवन उलझन में पड़ जाता है। भगवान् विष्णु के सेवकों को यह उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य सौंपा गया है, अतः वे पृथ्वी पर तथा ब्रह्माण्ड के अन्य लोकों में विचरण करते हैं। इसप्रकार उद्धव को सीधे भगवान् से जो ज्ञान प्राप्त हुआ था वह मानव समाज में वितरण करने के योग्य है, विशेष रूप से विदुर जैसे पुरुषों में जो भगवद्भक्ति में अत्यधिक बढ़े-चढ़े हैं।

असली दिव्य ज्ञान भगवान् से उद्धव, उद्धव से विदुर और ऐसे ही आगे शिष्य-परम्परा द्वारा आगे-आगे उतरता जाता है। ऐसे परम दिव्य ज्ञान को उस अधूरी चिन्तन विधि से प्राप्त कर पाना सम्भव नहीं जैसाकि लौकिक झगड़ालू तथाकथित विद्वान् करते हैं। विदुर उद्धव से उस गुह्य ज्ञान को जानने के लिए उत्सुक थे, जो परमां स्थितिम् कहलाता है, जिसमें भगवान् अपनी दिव्य लीलाओं द्वारा जाने जाते हैं। यद्यपि विदुर उद्धव से बड़े थे, किन्तु आध्यात्मिक सम्बन्ध में वे उद्धव का सेवक बनने को उत्सुक थे। दिव्य शिष्य-परम्परा का यह सूत्र चैतन्य महाप्रभु ने भी सिखाया है। श्री चैतन्य महाप्रभु सलाह देते हैं कि मनुष्य को किसी से भी, चाहे ब्राह्मण हो या शूद्र, गृहस्थ हो या संन्यासी, दिव्य ज्ञान ग्रहण करना चाहिए बशर्ते कि वह व्यक्ति कृष्ण-विज्ञान में यथार्थ रूप में पटु हो। वस्तुतः, जो व्यक्ति कृष्ण-विज्ञान जानता है, वही प्रामाणिक गुरु है।

उद्धव उवाच

ननु ते तत्त्वसंराध्य ऋषिः कौषारवोऽन्तिके ।

साक्षाद्भगवतादिष्टो मर्त्यलोकं जिहासता ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

उद्धवः उवाच—उद्धव ने कहा; ननु—लेकिन; ते—तुम्हारा; तत्त्व-संराध्यः—दिव्य ज्ञान को ग्रहण करने के लिए पूजनीय; ऋषिः—विद्वान्; कौषारवः—कौषारु पुत्र (मैत्रेय) को; अन्तिके—निकट; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवता—भगवान् द्वारा; आदिष्टः—आदेश दिया गया; मर्त्य-लोकम्—मर्त्यलोक को; जिहासता—छोड़ते हुए ।

श्री उद्धव ने कहा : आप महान् विद्वान् ऋषि मैत्रेय से शिक्षा ले सकते हैं, जो पास ही में हैं और जो दिव्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए पूजनीय हैं। जब भगवान् इस मर्त्यलोक को छोड़ने वाले थे तब उन्होंने मैत्रेय को प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा दी थी।

तात्पर्य : कोई भले ही दिव्य विज्ञान में पारंगत क्यों न हो, उसे *मर्यादा-व्यतिक्रम* अर्थात् अपने से उच्च पुरुष की धृष्टता-पूर्वक अवमानना के अपराध के विषय में सतर्क रहना चाहिए। शास्त्रों के आदेशानुसार मनुष्य को *मर्यादा-व्यतिक्रम* नियम का उल्लंघन करने के प्रति अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से उसकी आयु, उसका ऐश्वर्य, यश तथा पुण्य और सारे जगत के शुभाशीषों का विनाश होता है। दिव्य ज्ञान में पारंगत होने के लिए आध्यात्मिक विज्ञान की तकनीकों के प्रति जानकारी होना आवश्यक है। दिव्य ज्ञान की इन सारी बारीकियों से भलीभाँति परिचित होने के कारण उद्धव ने विदुर को सलाह दी कि दिव्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए वे मैत्रेय ऋषि के पास जाएँ।

विदुर उद्धव को अपना गुरु मानना चाहते थे, किन्तु उद्धव ने यह पद स्वीकार नहीं किया, क्योंकि विदुर उद्धव के पिता जितनी उम्र के थे, अतएव उद्धव उन्हें शिष्य रूप में स्वीकार नहीं कर सकते थे, विशेष रूप से जब मैत्रेय पास में ही उपस्थित थे। नियम यह है कि अपने से बड़े पुरुष की उपस्थिति में उपदेश देने के लिए किसी को उत्सुक नहीं होना चाहिए चाहे कोई कितना ही दक्ष तथा निष्णात क्यों न हो। इसलिए उद्धव ने विदुर-जैसे वयोवृद्ध व्यक्ति को एक अन्य वयोवृद्ध व्यक्ति मैत्रेय के पास भेजने का निर्णय लिया। वे भी निष्णात थे, क्योंकि भगवान् ने मर्त्यलोक से प्रयाण करते समय उन्हें भी स्वयं उपदेश दिया था। चूँकि उद्धव तथा मैत्रेय दोनों ही को सीधे भगवान् ने उपदेश दिया था, अतएव दोनों को विदुर का या अन्य किसी का गुरु बनने का अधिकार था। किन्तु वयोवृद्ध होने के कारण मैत्रेय को विदुर का गुरु बनने का पहला अधिकार था, क्योंकि विदुर आयु में उद्धव से काफी बड़े थे। किसी

मनुष्य को लाभ तथा यश के लिए सस्ता आध्यात्मिक गुरु बनने के लिए उत्सुक नहीं होना चाहिए, अपितु केवल भगवान् की सेवा के निमित्त ही गुरु बनना चाहिए। भगवान् कभी भी *मर्यादा-व्यतिक्रम* की धृष्टता को सहन नहीं करते। मनुष्य को चाहिए कि अपने निजी लाभ तथा यश के लिए वयोवृद्ध गुरुओं को प्राप्य सम्मान में ऊपर-चढ़ी न करे। छद्म गुरु के लिए ढिंढाई करना आध्यात्मिक साक्षात्कार में प्रगति के लिए अत्यन्त घातक है।

श्रीशुक उवाच
इति सह विदुरेण विश्वमूर्ते-
गुणकथया सुधया प्लावितोरुतापः ।
क्षणमिव पुलिने यमस्वसुस्तां
समुषित औपगविर्निशां ततोऽगात् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; सह—साथ; विदुरेण—विदुर के; विश्व-मूर्तेः—विराट पुरुष का; गुण-कथया—दिव्य गुणों की बातचीत के दौरान; सुधया—अमृत के तुल्य; प्लावित-ऊरु-तापः—अत्यधिक कष्ट से अभिभूत; क्षणम्—क्षण; इव—सदृश; पुलिने—तट पर; यमस्वसुः ताम्—उस यमुना नदी के; समुषितः—बिताया; औपगविः—औपगव का पुत्र (उद्धव); निशाम्—रात्रि; ततः—तत्पश्चात्; अगात्—चला गया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, इस तरह यमुना नदी के तट पर विदुर से (भगवान् के) दिव्य नाम, यश, गुण इत्यादि की चर्चा करने के बाद उद्धव अत्यधिक शोक से अभिभूत हो गये। उन्होंने सारी रात एक क्षण की तरह बिताई। तत्पश्चात् वे वहाँ से चले गये।

तात्पर्य : यहाँ पर कृष्ण के लिए *विश्वमूर्ति* शब्द का प्रयोग हुआ है। उद्धव तथा विदुर दोनों ही भगवान् कृष्ण के प्रयाण से अत्यधिक दुखी थे। वे भगवान् के दिव्य नाम, यश तथा गुणों के बारे में जितनी अधिक चर्चा करते गये उतना ही उन्हें भगवान् का चित्र सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगा। भगवान् के दिव्य स्वरूप का ऐसा मानस-दर्शन न तो मिथ्या है न काल्पनिक, अपितु वास्तविक परम सत्य है। जब भगवान् को विश्वमूर्ति के रूप में देखा जाता है, तो वे न तो अपना व्यक्तित्व खोते हैं न ही अपना दिव्य नित्य स्वरूप, अपितु वे सर्वत्र उसी रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।

राजोवाच
निधनमुपगतेषु वृष्णिभोजे-
ष्वधिरथयूथपयूथपेषु मुख्यः ।

स तु कथमवशिष्ट उद्धवो यद्

धरिरपि तत्यज आकृतिं त्र्यधीशः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने पूछा; निधनम्—विनाश; उपगतेषु—हो जाने पर; वृष्णि—वृष्णिवंश; भोजेषु—भोजवंश का; अधिरथ—महान् सेनानायक; यूथ-प—मुख्य सेनानायक; यूथ-पेषु—उनके बीच; मुख्यः—प्रमुख; सः—वह; तु—केवल; कथम्—कैसे; अवशिष्टः—बचा रहा; उद्धवः—उद्धव; यत्—जबकि; हरिः—भगवान् ने; अपि—भी; तत्यजे—समाप्त किया; आकृतिम्—सम्पूर्ण लीलाएँ; त्रि-अधीशः—तीनों लोकों के स्वामी।

राजा ने पूछा : तीनों लोकों के स्वामी श्रीकृष्ण की लीलाओं के अन्त में तथा उन वृष्णि एवं भोज वंशों के सदस्यों के अन्तर्धान होने पर, जो महान् सेनानायकों में सर्वश्रेष्ठ थे, अकेले उद्धव क्यों बचे रहे?

तात्पर्य : श्री जीव गोस्वामी के अनुसार *निधनम्* का अर्थ है भगवान् का दिव्य धाम। *नि* का अर्थ है सर्वोच्च तथा *धनम्* का अर्थ हैं ऐश्वर्य। चूँकि भगवान् का धाम दिव्य ऐश्वर्य की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है, अतएव उनके धाम को *निधनम्* कहा जा सकता है। व्याकरणिक स्पष्टीकरण के अतिरिक्त *निधनम्* शब्द का असली उद्देश्य यह सूचित करना है कि वृष्णि तथा भोज कुलों के सारे सदस्य भगवान् के प्रत्यक्ष संगी थे और भगवान् की लीलाओं की समाप्ति पर उन संगियों को दिव्यधाम में उनके अपने-अपने पदों पर भेज दिया गया था।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *आकृतिम्* शब्द का अर्थ लीलाओं के रूप में किया है। *आ* का अर्थ है पूर्ण और *कृतिम्* का अर्थ दिव्य लीलाएँ हैं। चूँकि भगवान् अपने दिव्य शरीर से अभिन्न हैं, अतएव उनके शरीर के बदलने या त्यागने का प्रश्न ही नहीं है। भौतिक जगत के रीति-रिवाजों और नियमों के अनुसार कर्म करने के लिए भगवान् जन्म धारण करते या शरीर-त्याग करते हैं, किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त वास्तविकता से सुपरिचित होते हैं। इसलिए *श्रीमद्भागवत* के गम्भीर अध्येताओं के लिए आवश्यक है कि वे जीव गोस्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती जैसे महान् आचार्यों की टीका-टिप्पणियों का अनुसरण करें। अन्य लोग, जो कि भगवद्भक्त नहीं हैं, उनके लिए ऐसे आचार्यों की टीकाएँ एवं व्याख्याएँ व्याकरणिक वाग्जाल प्रतीत हो सकती हैं, किन्तु शिष्य-परम्परा का अनुसरण करने वाले छात्रों के लिए महान् आचार्यों की व्याख्याएँ अत्यन्त उपयुक्त हैं।

उपगतेषु शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। वृष्णि तथा भोज कुलों के सारे सदस्य सीधे भगवान् के धाम पहुँच गये। अन्य भक्तगण भगवद्धाम सीधे नहीं पहुँचते, किन्तु भगवान् के शुद्ध संगियों को भौतिक

जगत के किसी भी लोक के ऐश्वर्य के प्रति कोई आकर्षण नहीं होता। कभी-कभी जिज्ञासा-वश भगवद्धाम पहुँचने वाले कुछ भक्तों का पृथ्वी के ऊपर के उच्चतर लोकों के ऐश्वर्य के प्रति कुछ आकर्षण होता है, अतएव सिद्धि प्राप्त करते समय वे उन्हें देखने की इच्छा करते हैं। किन्तु वृष्णियों तथा भोजों को सीधे ही वहाँ भेज दिया गया, क्योंकि उन्हें भौतिक लोकों के प्रति कोई आकर्षण नहीं था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर भी सुझाव देते हैं कि *अमरकोश* के अनुसार *आकृति* का अर्थ 'संकेत' भी है। भगवान् कृष्ण ने अपने प्रयाण के पश्चात् संकेत द्वारा उद्धव को बदरिकाश्रम जाने का आदेश दिया और शुद्ध भक्त होने से उद्धव ने भगवद्धाम वापस जाने की अपेक्षा अधिक श्रद्धापूर्वक उस आदेश का पालन किया। पृथ्वी के धरातल से भगवान् के प्रयाण के बाद भी उनके अकेले रहते जाने का यही कारण था।

श्रीशुक उवाच

ब्रह्मशापापदेशेन कालेनामोघवाञ्छितः ।

संहृत्य स्वकुलं स्फीतं त्यक्ष्यन्देहमचिन्तयत् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; ब्रह्म-शाप—ब्रह्मणों द्वारा शाप दिया जाना; अपदेशेन—बहाने से; कालेन—नित्य काल द्वारा; अमोघ—अचूक; वाञ्छितः—ऐसा चाहने वाला; संहृत्य—बन्द करके; स्व-कुलम्—अपने परिवार को; स्फीतम्—असंख्य; त्यक्ष्यन्—त्यागने के बाद; देहम्—विश्व रूप को; अचिन्तयत्—अपने आप में सोचा।

शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया : हे प्रिय राजन्, ब्राह्मण का शाप तो केवल एक बहाना था, किन्तु वास्तविक तथ्य तो भगवान् की परम इच्छा थी। वे अपने असंख्य पारिवारिक सदस्यों को भेज देने के बाद पृथ्वी के धरातल से अन्तर्धान हो जाना चाहते थे। उन्होंने अपने आप इस तरह सोचा।

तात्पर्य : इस श्लोक में श्रीकृष्ण द्वारा अपना शरीर परित्याग करने के सम्बन्ध में *त्यक्ष्यन्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। चूँकि वे सच्चिदानन्द विग्रह हैं, अतः उनका शरीर तथा उनकी आत्मा अभिन्न हैं। अतएव यह कैसे सम्भव हो सकता है कि वे अपना शरीर त्यागें और तब इस जगत की दृष्टि से ओझल हों? भगवान् के रहस्यमय तिरोधान के विषय में अभक्तों या मायावादियों के बीच अत्यधिक विवाद है और अल्पज्ञों की शंकाओं को श्रील जीव गोस्वामी ने अपने *कृष्ण सन्दर्भ* में विस्तार से स्पष्ट किया है।

ब्रह्म-संहिता के अनुसार भगवान् के अनेक स्वरूप हैं। उसमें कहा गया है कि भगवान् के असंख्य

रूप हैं और जब वे जीवों की दृष्टि के अन्तर्गत प्रकट होते हैं जैसाकि भगवान् कृष्ण वास्तव में प्रकट हुए, तो ये सारे स्वरूप उनमें मिल जाते हैं। इन अच्युत रूपों के अतिरिक्त उनका विश्वरूप है, जिसे उन्होंने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन के समक्ष प्रकट किया। इस श्लोक में *स्फीतम्* शब्द भी प्रयुक्त हुआ है, जो यह संकेत करता है कि उन्होंने अपने *विराट्* रूप का परित्याग किया, अपने आदि नित्य रूप का नहीं, क्योंकि उनके सच्चिदानन्द स्वरूप के बदलने की कोई सम्भावना नहीं है। भगवान् के भक्तगण इस सरल ज्ञान से तुरन्त अवगत हो जाते हैं, किन्तु जो अभक्त हैं और भगवान् की कोई भक्ति भक्तिमय सेवा नहीं करते, वे या तो इस सरल तथ्य को समझते नहीं या जान बूझकर भगवान् के दिव्य शरीर की नित्यता को झुठलाने के लिए विवाद खड़ा करते हैं। यह उस दोष के कारण है, जिसे अपूर्ण जीवों को उगने की प्रवृत्ति कहते हैं।

व्यावहारिक अनुभव से भी आज तक यह देखा जाता है कि भगवान् के दिव्य स्वरूप की पूजा भक्तों द्वारा विभिन्न मन्दिरों में की जाती है और भगवान् के सारे भक्त यथार्थ के रूप में अनुभव करते हैं कि मन्दिर में अर्चाविग्रह का स्वरूप भगवान् के स्वरूप से अभिन्न है। भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के इस अचिन्त्य कार्य का वर्णन *भगवद्गीता* (७.२५) में किया गया है—*नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।* भगवान् को यह अधिकार है कि वे सबों के समक्ष प्रकट न हों। *पद्म पुराण* में कहा गया है—*अतः श्रीकृष्ण नामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।* भगवान् का नाम तथा रूप भौतिक इन्द्रियों द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता। किन्तु जब वे संसारी लोगों को दृष्टिगोचर होते हैं, तो वे *विराट्* रूप धारण कर लेते हैं। यह स्वरूप का अतिरिक्त भौतिक प्रदर्शन है और विशेष्य तथा इसके विशेषणों के तर्क द्वारा मान्य है। व्याकरण में जब किसी विशेषण का विशेष्य अलग कर दिया जाता है, तो इसके द्वारा विशेषित विशेष्य बदलता नहीं। इसी तरह जब भगवान् अपना *विराट्* रूप त्यागते हैं, तो उनका नित्य रूप बदलता नहीं, यद्यपि उनमें तथा उनके असंख्य रूपों में से किसी एक में कोई अन्तर नहीं है। पंचम स्कन्ध में यह देखने को मिलेगा कि किस तरह विभिन्न लोकों में अब भी भगवान् की पूजा विभिन्न रूपों में की जाती है और इस पृथ्वी पर भी विभिन्न मन्दिरों में किस तरह उनकी पूजा की जाती है।

श्रील जीव गोस्वामी तथा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अपनी टीकाओं में वैदिक साहित्य के

विभिन्न प्रामाणिक संस्करणों से उद्धरण देते हुए भगवान् के तिरोधान की इस घटना की विस्तृत व्याख्या दी है। इस ग्रन्थ की आकार-वृद्धि के भय से हम जानबूझकर उन सबों को यहाँ समाविष्ट नहीं कर रहे हैं। यह सारा प्रसंग *भगवद्गीता* में विवेचित है जैसाकि ऊपर उद्धरण दिया गया है; भगवान् को अधिकार है कि वे हर एक के समक्ष प्रकट न हों। वे उन अभक्तों की दृष्टि से, जो प्रेम तथा भक्ति से विहीन हैं, अपने को सदैव दूर रखते हैं और इस तरह उन्हें अपने से अधिकाधिक दूर करते जाते हैं। ब्रह्मा के अनुरोध पर भगवान् प्रकट हुए थे, क्योंकि उन्होंने क्षीरोदकशायी विष्णु के समक्ष प्रार्थना की थी, अतएव जब भगवान् प्रकट हुए तो विष्णु के सारे रूप उन्हीं में मिल गये और जब उद्देश्य पूरा हो गया तो वे यथासमय उनसे विलग हो गये।

अस्माल्लोकादुपरते मयि ज्ञानं मदाश्रयम् ।

अर्हत्युद्धव एवाद्धा सम्प्रत्यात्मवतां वरः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अस्मात्—इस (ब्रह्माण्ड) से; लोकात्—पृथ्वी से; उपरते—ओझल होने पर; मयि—मेरे विषय के; ज्ञानम्—ज्ञान; मत्-आश्रयम्—मुझसे सम्बन्धित; अर्हति—योग्य होता है; उद्धवः—उद्धव; एव—निश्चय ही; अद्धा—प्रत्यक्षतः; सम्प्रति—इस समय; आत्मवताम्—भक्तों में; वरः—सर्वोपरि।

अब मैं इस लौकिक जगत की दृष्टि से ओझल हो जाऊँगा और मैं समझता हूँ कि मेरे भक्तों में अग्रणी उद्धव ही एकमात्र ऐसा है, जिसे मेरे विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से सौंपा जा सकता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में ज्ञानं मद्-आश्रयम् महत्त्वपूर्ण है। दिव्य ज्ञान के तीन विभाग हैं—निर्विशेष ब्रह्म का ज्ञान, सर्वव्यापक परमात्मा का ज्ञान तथा भगवान् का ज्ञान। इन तीनों में से भगवान् के दिव्य ज्ञान का विशेष महत्त्व है और यह *भगवत्-तत्त्व-विज्ञान* कहलाता है। यह विशिष्ट ज्ञान शुद्ध भक्ति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, अन्य किसी साधन द्वारा नहीं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८-५५) में हुई है—*भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः*—एकमात्र भक्तिमय सेवा में लगे व्यक्ति ही भगवान् की दिव्य स्थिति को ठीक से जान सकते हैं। उद्धव उस काल के भक्तों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे, अतएव भगवत्कृपा से उन्हें सीधे उपेदेश दिया गया जिससे इस जगत की दृष्टि से भगवान् के ओझल हो जाने के बाद लोग उद्धव के ज्ञान का लाभ उठा सकें। उद्धव को बदरिकाश्रम जाने के लिए, जहाँ

भगवान् नर-नारायण अर्चाविग्रह के रूप में स्थित हैं, सलाह दिये जाने के कारणों में से यह एक कारण है। जो मनुष्य आध्यात्मिक रूप से अग्रणी है, वह मन्दिर-अर्चाविग्रह से प्रत्यक्ष प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। इस तरह भगवद्भक्त सदैव दिव्य ज्ञान में भगवत्कृपा से उल्लेखनीय प्रगति करने के लिए भगवान् के मान्यता प्राप्त मन्दिर की शरण ग्रहण करता है।

नोद्धवोऽणवपि मन्त्र्यूनो यद्गुणैर्नादितः प्रभुः ।
अतो मद्भयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; उद्धवः—उद्धव; अणु—रंचभर; अपि—भी; मत्—मुझसे; न्यूनः—घटकर; यत्—क्योंकि; गुणैः—प्रकृति के गुणों के द्वारा; न—न तो; अदितः—प्रभावित; प्रभुः—स्वामी; अतः—इसलिए; मत्-वयुनम्—मेरा (भगवान् का) ज्ञान; लोकम्—संसार; ग्राहयन्—प्रसार करने के लिए; इह—इस संसार में; तिष्ठतु—रहता रहे।

उद्धव किसी भी तरह मुझसे घटकर नहीं है, क्योंकि वह प्रकृति के गुणों द्वारा कभी भी प्रभावित नहीं हुआ है। अतएव भगवान् के विशिष्ट ज्ञान का प्रसार करने के लिए वह इस जगत में रहता रहे।

तात्पर्य : भगवान् का प्रतिनिधि बनने के लिए जिस विशिष्ट योग्यता की आवश्यकता होती है, वह है : प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहना। भौतिक जगत में मनुष्य की सर्वोच्च योग्यता ब्राह्मण बनना है। किन्तु, चूँकि ब्राह्मण सतोगुणी होता है, अतः ब्राह्मण होना ही भगवान् का प्रतिनिधि बनने के लिए पर्याप्त नहीं है। मनुष्य को सतोगुण को भी लाँघ कर शुद्ध सत्त्व में स्थित होना पड़ता है, जो प्रकृति के किसी भी गुण से प्रभावित नहीं होता है। दिव्य योग्यता की यह अवस्था शुद्ध सत्त्व या वसुदेव कहलाती है और इस अवस्था में ईश-विज्ञान की अनुभूति की जा सकती है। जिस तरह भगवान् प्रकृति के गुणों से प्रभावित नहीं होते उसी तरह भगवान् का शुद्ध भक्त भी प्रकृति के गुणों से प्रभावित नहीं होता। भगवान् से तादात्म्य होने की यह प्राथमिक योग्यता है। जो व्यक्ति इस दिव्य योग्यता को प्राप्त कर लेता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है, यद्यपि वह भौतिक अवस्था में रहता है। यह मुक्ति उसे प्राप्त होती है, जो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर लगा रहता है। भक्तिरसामृत-सिन्धु (१.२.१८७) में कहा गया है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा ।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥

“जो कोई भी अपने कार्यों, मन तथा वाणी से एकमात्र भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति के लिए जीता है, वह निश्चय ही मुक्तात्मा है, भले ही वह इस जगत की भौतिक संसार की अवस्था में प्रतीत होता हो।” उद्धव ऐसे ही दिव्य पद को प्राप्त थे, इसीलिए उन्हें इस जगत की दृष्टि से भगवान् की शारीरिक अनुपस्थिति में भगवान् का वास्तविक प्रतिनिधि चुना गया था। ऐसा भगवद्भक्त भौतिक शक्ति, बुद्धि या वैराग्य से भी कभी प्रभावित नहीं होता। भगवान् का ऐसा भक्त भौतिक प्रकृति के समस्त आघातों को सह सकता है और इसीलिए वह गोस्वामी कहलाता है। ऐसे गोस्वामी ही भगवान् के दिव्य प्रेममय सम्बन्धों के रहस्यों का भेदन कर सकते हैं।

एवं त्रिलोकगुरुणा सन्दिष्टः शब्दयोनिना ।

बदर्याश्रममासाद्य हरिमीजे समाधिना ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; त्रि-लोक—तीनों जगत के; गुरुणा—गुरु द्वारा; सन्दिष्टः—ठीक से शिक्षा दी जाकर; शब्द-योनिना—जो समस्त वैदिक ज्ञान का स्रोत है उसके द्वारा; बदर्याश्रमम्—बदरिकाश्रम के तीर्थस्थान में; आसाद्य—पहुँचकर; हरिम्—भगवान् को; ईजे—तुष्ट किया; समाधिना—समाधि द्वारा।

शुकदेव गोस्वामी ने राजा को सूचित किया कि इस तरह समस्त वैदिक ज्ञान के स्रोत और तीनों लोकों के गुरु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा उपदेश दिये जाने पर उद्धव बदरिकाश्रम तीर्थस्थल पहुँचे और भगवान् को तुष्ट करने के लिए उन्होंने अपने को समाधि में लगा दिया।

तात्पर्य : वस्तुतः भगवान् श्रीकृष्ण तीनों लोकों के गुरु हैं और वे समस्त वैदिक ज्ञान के आदि उद्गम हैं। किन्तु परम सत्य के साकार रूप को वेदों के द्वारा भी समझ पाना अत्यन्त कठिन है। परम सत्य के रूप में भगवान् को समझ पाने के लिए उनके निजी उपदेशों की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे दिव्य ज्ञान का प्रमाण सार रूप में भगवद्गीता है। परमेश्वर को कोई तब तक नहीं जान सकता जब तक भगवान् स्वयं कृपा न करें। भगवान् कृष्ण ने यह विशेष कृपा अर्जुन तथा उद्धव पर प्रकट की जब वे इस भौतिक जगत में थे।

निस्सन्देह, भगवान् द्वारा भगवद्गीता का प्रवचन कुरुक्षेत्र युद्धस्थल में अर्जुन को युद्ध के प्रति प्रोत्साहित करने के लिए हुआ था। फिर भी भगवद्गीता के दिव्य ज्ञान को पूर्ण बनाने के लिए भगवान्

ने उद्धव को उपदेश दिया। भगवान् की इच्छा थी कि उद्धव उनके मिशन को पूरा करें तथा जो ज्ञान *भगवद्गीता* में भी नहीं दिया गया उस ज्ञान का प्रसार करें। जो लोग वेदों के वचनों के प्रति आसक्त रहते हैं, वे भी इस श्लोक से यह जान सकते हैं कि भगवान् समस्त वैदिक ज्ञान के स्रोत हैं। जो व्यक्ति वेदों के पृष्ठों का अध्ययन करने के बाद भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को नहीं समझ पाते वे भगवान् विषयक ज्ञान में आगे बढ़ने के उद्देश्य से उद्धव जैसे किसी भगवद्भक्त की शरण ग्रहण कर सकते हैं। *ब्रह्म-संहिता* का कथन है कि वेदों से भगवान् को समझ पाना अत्यन्त कठिन है, किन्तु उद्धव जैसे शुद्ध भक्त से उन्हें आसानी से समझा जा सकता है। भगवान् ने बदरिकाश्रम में रहने वाले महर्षियों पर कृपा करके उद्धव को अपनी ओर से बोलने के लिए अधिकृत किया। ऐसा अधिकार प्राप्त किये बिना न तो कोई व्यक्ति भगवद्भक्ति को समझ सकता है न ही उसका उपदेश दे सकता है।

जब भगवान् इस धरा पर विद्यमान थे तो उन्होंने अन्तरिक्ष की भी यात्रा करके स्वर्ग से पारिजात लाने तथा अपने गुरु (सान्दीपनि मुनि) के पुत्र को यमलोक से वापस लाने जैसे बहुत से असामान्य कार्यकलाप सम्पन्न किये। उद्धव को निश्चित रूप से अन्य लोकों में जीवन की स्थितियों के विषय में बतलाया गया था और सारे ऋषि उन लोकों के बारे में जानने के लिए उसी तरह उत्सुक थे जिस तरह हम अन्तरिक्ष के ग्रहों के विषय में जानने के लिए उत्सुक रहते हैं। उद्धव को यह संदेश बदरिकाश्रम को ले जाने के लिए, न केवल उस तीर्थस्थल के ऋषियों के लिए, अपितु नर-नारायण अर्चाविग्रहों के लिए भी विशेष रूप से नियुक्त किया गया था। ऐसा सन्देश वेदों के पृष्ठों में वर्णित ज्ञान की अपेक्षा अधिक गुह्य रहा होगा।

भगवान् निस्सन्देह समस्त ज्ञान के स्रोत हैं और उद्धव के माध्यम से नर-नारायण तथा अन्य ऋषियों के पास भेजे गये सन्देश भी वैदिक ज्ञान के अंश थे, किन्तु वे अधिक गुह्य थे और वे एकमात्र उद्धव जैसे शुद्ध भक्त के माध्यम से ही भेजे या समझे जा सकते थे। चूँकि ऐसा गुह्य ज्ञान केवल भगवान् तथा उद्धव को ही ज्ञात था, अतएव यह कहा जाता है कि उद्धव स्वयं भगवान् के सदृश थे। उद्धव की ही तरह हरेक जीव भी भगवान् के ही स्तर पर दिव्य सन्देशवाहक बन सकता है बशर्ते कि वह प्रेमाभक्ति के द्वारा स्वयं विश्वस्त हो ले। ऐसा गुह्य ज्ञान उद्धव तथा अर्जुन जैसे शुद्ध भक्तों को ही सौंपा जाता है, जैसी कि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है और मनुष्य को उन्हीं से यह रहस्य सीखना होता

है, अन्य उपाय से नहीं। *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* को भगवान् के ऐसे विश्वस्त भक्तों की सहायता के बिना नहीं समझा जा सकता। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार वह गुह्य सन्देश अवश्य ही भगवान् के प्रयाण के रहस्य तथा इस लोक में उनके प्राकट्य के एक सौ वर्षों बाद उनके वंश के संहार के विषय में जानने से सम्बन्धित रहा होगा। हर व्यक्ति यदुवंश के संहार के रहस्य को जानने के लिए अतीव उत्सुक रहा होगा और वह संदेश भगवान् द्वारा उद्धव को बतलाया गया होगा तथा नर-नारायण एवं अन्य शुद्ध भगवद्भक्तों की जानकारी के लिए बदरिकाश्रम भेजा गया होगा।

विदुरोऽप्युद्धवाच्छ्रुत्वा कृष्णस्य परमात्मनः ।

क्रीडयोपात्तदेहस्य कर्माणि श्लाघितानि च ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

विदुरः—विदुर; अपि—भी; उद्धवात्—उद्धव के स्रोत से; श्रुत्वा—सुनकर; कृष्णस्य—भगवान् कृष्ण का; परम-आत्मनः—परमात्मा का; क्रीडया—मर्त्यलोक में लीलाओं के लिए; उपात्त—असाधारण रूप से स्वीकृत; देहस्य—शरीर के; कर्माणि—दिव्य कर्म; श्लाघितानि—अत्यन्त प्रशंसनीय; च—भी।

विदुर ने उद्धव से इस मर्त्यलोक में परमात्मा अर्थात् भगवान् कृष्ण के आविर्भाव तथा तिरोभाव के विषय में भी सुना जिसे महर्षिगण बड़ी ही लगन के साथ जानना चाहते हैं।

तात्पर्य : परमात्मा अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण के आविर्भाव तथा तिरोभाव का विषय महर्षियों तक के लिए रहस्य बना हुआ है। इस श्लोक में *परमात्मनः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। सामान्य जीव प्रायः आत्मा कहलाता है, किन्तु भगवान् कृष्ण कभी भी सामान्य जीव नहीं हैं, क्योंकि वे *परमात्मा* हैं। फिर भी मनुष्य के रूप में उनका आविर्भाव तथा इस मर्त्यलोक से पुनः उनका तिरोभाव उन शोधार्थियों के लिए शोध का विषय है, जो बड़ी ही लगन के साथ शोधकार्य करते हैं। ऐसे विषय निश्चय ही अधिकाधिक रोचक हैं, क्योंकि शोधार्थियों को भगवान् का दिव्य धाम खोजना होता है, जिसमें भगवान् मर्त्यलोक की लीलाएँ समाप्त करने के बाद प्रवेश करते हैं। किन्तु महर्षियों तक को कोई जानकारी नहीं है कि इस भौतिक आकाश के परे आध्यात्मिक आकाश है जहाँ श्रीकृष्ण अपने संगियों समेत नित्य निवास करते हैं यद्यपि, उसी के साथ-साथ, वे सारे ब्रह्माण्डों में बारी-बारी से अपनी मर्त्यलोक की लीलाएँ प्रदर्शित करते रहते हैं। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (५.३७)में हुई है—*गोलोक एव निवस-त्यखिलात्मभूतः*—भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्ति से अपने नित्य धाम गोलोक में रहते हैं फिर भी

साथ-साथ परमात्मा रूप में वे सर्वत्र—आध्यात्मिक तथा भौतिक आकाशों में—अपने विविध रूपों द्वारा विद्यमान रहते हैं। अतएव उनके आविर्भाव तथा तिरोभाव साथ-साथ चलते रहते हैं और कोई भी निश्चित रूप से यह नहीं कह सकता कि उनमें से कौनसा अथ है और कौनसा इति है। उनकी नित्य लीलाओं का कोई आदि-अन्त नहीं है। उन्हें शुद्ध भक्त से ही जाना जा सकता है, अतः तथाकथित शोधकार्य में मूल्यवान समय नष्ट नहीं किया जाना चाहिए।

देहन्यासं च तस्यैवं धीराणां धैर्यवर्धनम् ।

अन्येषां दुष्करतरं पशूनां विक्लवात्मनाम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

देह-न्यासम्—शरीर में प्रवेश; च—भी; तस्य—उसका; एवम्—भी; धीराणाम्—महर्षियों का; धैर्य—धीरज; वर्धनम्—बढ़ाते हुए; अन्येषाम्—अन्यों के लिए; दुष्कर-तरम्—निश्चित कर पाना अत्यन्त कठिन; पशूनाम्—पशुओं के; विक्लव—बेचैन; आत्मनाम्—ऐसे मन का।

भगवान् के यशस्वी कर्मों तथा मर्त्यलोक में असाधारण लीलाओं को सम्पन्न करने के लिए उनके द्वारा धारण किये जाने वाले विविध दिव्य रूपों को समझ पाना उनके भक्तों के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए अत्यन्त कठिन है और पशुओं के लिए तो वे मानसिक विक्षोभ मात्र हैं।

तात्पर्य : भगवान् के दिव्य स्वरूपों तथा लीलाओं का *भगवद्गीता* में जिस रूप में वर्णन हुआ है अभक्तों के लिए उन्हें समझ पाना कठिन कार्य है। भगवान् कभी भी *ज्ञानियों* तथा *योगियों* जैसे व्यक्तियों के समक्ष अपने को उद्धाटित नहीं करते। कुछ अन्य लोग भी हैं जिनकी गणना हृदय की गहराई से भगवान् से ईर्ष्या करने के कारण पशुओं में की जाती है। ऐसे ईर्ष्यालु पशुओं के लिए भगवान् के आविर्भाव तथा तिरोधान का विषय केवल मानसिक विक्षोभ है। जैसी कि *भगवद्गीता* (७.१५) में पुष्टि की गई है, ऐसे दुर्जन जिन्हें मात्र भौतिक भोग की ही चिन्ता रहती है, जो भारवाही पशुओं की तरह कठिन श्रम करते हैं, *आसुरिक-भाव* के कारण किसी भी अवस्था में भगवान् को नहीं जान पाते।

मर्त्यलोक में अपनी लीलाओं के लिए भगवान् द्वारा प्रदर्शित दिव्य शारीरिक अंशों तथा ऐसे दिव्य अंशों का आविर्भाव तथा तिरोभाव कठिन विषय हैं और जो लोग भक्त नहीं हैं उन्हें सलाह दी जाती है कि वे भगवान् के आविर्भाव तथा तिरोधान भाव की चर्चा न करें अन्यथा वे भगवान् के चरणकमलों

पर और अधिक अपराध कर सकते हैं। वे आसुरी भाव से भगवान् के दिव्य आविर्भाव तथा तिरोभाव के विषय में जितनी ही अधिक चर्चा करेंगे उतना ही अधिक वे नरक के गहनतम भागों में प्रवेश करेंगे जैसाकि *भगवद्गीता* (१६.२०) में कहा गया है। जो भी व्यक्ति भगवान् की दिव्य प्रेम-युक्त सेवाभाव के विरुद्ध है, वह न्यूनाधिक पशु है, जिसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक में हुई है।

आत्मानं च कुरुश्रेष्ठ कृष्णेन मनसेक्षितम् ।
ध्यायन्गते भागवते रुरोद प्रेमविह्वलः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—स्वयं; च—भी; कुरु-श्रेष्ठ—हे कुरुओं में श्रेष्ठ; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; मनसा—मन से; ईक्षितम्—स्मरण किया गया; ध्यायन्—इस तरह सोचते हुए; गते—चले जाने पर; भागवते—भक्त के; रुरोद—जोर से चिल्लाया; प्रेम-विह्वलः—प्रेमभाव से अभिभूत हुआ।

यह सुनकर कि (इस जगत को छोड़ते समय) भगवान् कृष्ण ने उनका स्मरण किया था, विदुर प्रेमभाव से अभिभूत होकर जोर-जोर से रो पड़े।

तात्पर्य : जब विदुर जान पाये कि अन्तिम समय पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण ने उनका स्मरण किया था, तो वे प्रेमभाव से अभिभूत हो उठे। यद्यपि वे अपने को नगण्य मानते थे, फिर भी भगवान् ने अपनी अहैतुकी कृपावश उनका स्मरण किया। विदुर ने इसे महान् कृपा के रूप में स्वीकार किया, इसीलिए वे रो पड़े। ऐसा रोना भक्ति-मार्ग में अग्रसर होने का अंतिम संकेत है। जो व्यक्ति प्रेमवश भगवान् के लिए चिल्ला सकता है, वह भक्तिमय सेवा के मार्ग में निश्चय ही सफल है।

कालिन्ध्याः कतिभिः सिद्धे अहोभिर्भरतर्षभ ।
प्रापद्यत स्वःसरितं यत्र मित्रासुतो मुनिः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

कालिन्ध्याः—यमुना के तट पर; कतिभिः—कुछ; सिद्धे—बीत जाने पर; अहोभिः—दिन; भरत-ऋषभ—हे भरत वंश में श्रेष्ठ; प्रापद्यत—पहुँचा; स्वः-सरितम्—स्वर्ग की गंगा नदी; यत्र—जहाँ; मित्रा-सुतः—मित्र का पुत्र; मुनिः—मुनि।

यमुना नदी के तट पर कुछ दिन बिताने के बाद स्वरूपसिद्ध आत्मा विदुर गंगा नदी के तट पर पहुँचे जहाँ मैत्रेय मुनि स्थित थे।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत 'विदुर का मैत्रेय के पास जाना' नामक चौथे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

